आचार्य शंकर और उनका अद्वैतवाद

श्री रामचन्द्र आर्य

आचार्य शंकर और उनका अद्वैतवाद

–पं० श्री रामचन्द्र आर्य

सृष्टि के आदि से लेकर आज से लगभग तीन सहस्त्र वर्षों पूर्व तक व्यक्ति आधारित किसी धर्म का अस्तित्व नहीं था। आप्त पुरुष लोकोपकार की दृष्टि से धर्मोपदेश करते थे। गृहस्थ लोग भी आप्त सत्पुरुष का सत्कार करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। धर्म हमारे जीवन की पद्धति का नाम था, जिसकी रक्षा एवं वृद्धि इन अतिथि आप्तों द्वारा होती थी। इसलिए अतिथि सत्कार को महायज्ञ अर्थात् श्रेष्ठ कर्मों में स्थान प्राप्त था। धर्म और नीति में कोई भेद न था। 'आचार: परमो धर्म:' तथा 'आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' तथा 'अयं निज: परो वेत्ति गणनालघुचेतसाम्' आदि धर्म की परिभाषाएँ थी। मानव संघ की प्रत्येक संस्था के प्रत्येक कार्य धर्म के अन्तर्गत आते थे। राजनीति, अर्थनीति, प्रजानीति, दण्डनीति आदि सभी धर्म के विभाग थे। प्रजा का धर्म वर्णाश्रम धर्म कहलाता था।

कालान्तर में एक व्यक्ति धर्मप्रवर्तक हुआ। इसका नाम था गौतम बुद्ध। इसका धर्म सांगठनिक धर्म था। यह बौद्ध धर्म कहलाया। विश्व इतिहास में पहली बार था जब एक व्यक्ति धर्म का आधार बना, जिसमें धर्मात्मा होने के लिए एक मनुष्य की शरण लेना, एक संघ की शरण लेना एक अनिवार्यता थी। जो व्यक्ति संघ की शरण नहीं लेता, बुद्ध की शरण नहीं लेता वह धार्मिक नहीं हो सकता। जब व्यक्ति धर्म की धुरी बना तो वह पूज्य हो गया। उसके शरीर का एक-एक अंश पूज्य हो गया। उसकी हड्डी, दाँत यहाँ तक कि बाल पर बड़े-बड़े संघाराम स्थापित किये गये। मूर्तियाँ बनाई गईं, उनकी पूजा के लिये मन्दिर बनाए गए। इसके साथ अनेक धर्म प्रवर्तकों द्वारा धर्मों की स्थापना की गई। भगवान् महावीर, ईश पुत्र ईसा, हजरत मुहम्मद आदि इसके उदाहरण हैं। यह परम्परा आज भी यथावत् जारी है। अनेकों भगवान्, पैगम्बर आदि आज भी जन्म ले रहे हैं।

जिस समय बुद्ध एवं जैन धर्म राजधर्म के रूप में स्थापित हो चुके थे उस समय आज से लगभग ढ़ाई हजार वर्ष हुए, भारत के दक्षिणी प्रान्त में एक नक्षत्र का उदय हुआ। जिसने बौद्ध, जैन विशेषत: बुद्ध धर्म को जड़ से उखाड़ दिया। भविष्य का कोई भी दार्शनिक विद्वान् इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। मध्व, रामानुज, निम्बार्काचार्य आदि विद्वान् शांकर अद्वैत से सन्तुष्ट नहीं थे तथापि ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर:'' शंकर की इस मान्यता से ऊपर नहीं उठ पाये। आज तक भले ही आचार्य शंकर का नाम प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में बड़े आदर से लिया जाता है तथापि शंकर के मायावाद को व्यवहार में स्वीकार करने वाले विरले ही होंगे। वास्तव में यह मत बुद्धि-विलास के अतिरिक्त और कुछ

Scanned by CamScanner

भी नहीं है। हमारी दृष्टि में आचार्य शंकर भी इस मत को जीवन भर अपने हृदय में स्थान नहीं दे पाए। चाहे वह कितना भी बड़ा सत्य अथवा वास्तविकता हो, यदि वह आरोपित है तो व्यक्ति के हृदय में कभी स्थान नहीं बना सकता। 'एकमेवाद्वितीयम्' 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, एकोऽहं बहु स्याम् नेह नानाति किंचन और तत्त्वमसि' आदि वाक्यों को प्रकरणों से अलग करके खेंचतान द्वारा शंकर अद्वैत परक व्याख्या करते हैं। यदि वह इस व्याख्या को हृदय से स्वीकार करते होते तो स्त्री और शूद्र के प्रति इतने क्रूर भाव प्रकट न करते। आखिर आचार्य को स्त्री और शूद्र में ब्रह्म के दर्शन क्यों नहीं हुए। वेदाध्ययन रूपी पुण्य कर्म करने वाले शूद्र के लिए उन्होंने इतने कठोर दण्ड का विधान कर दिया जैसा जघन्यतम अपराध करने वाले अपराधी दुष्टों के लिए भी नहीं किया गया होगा। मनीषा पञ्चक के अनुसार काशी में मार्ग पर चलते हुए एक भङ्गन से शंकर ने कहा–चल हट, एक तरफ हो जा। इस पर उस भङ्गन ने पलट कर कहा–अरे आचार्य अन्नमय शरीर से अन्नमय शरीर को दूर हटने को कह रहे हो या चेतन ब्रह्म को चेतन ब्रह्म से दूर हटने को कह रहे हो। यह दूर हट, दूर हट की रट किसके लिए लगा रहे हो। यह सुन कर आचार्य हतप्रभ रह गये। हमारी दृष्टि में आचार्य अत्यन्त मेधा सम्पन्न एक बालक मात्र थे। भूसे के ढेर पर बैठे भ्रान्तिवश आत्मदाह को तत्पर भट्ट कुमारिल का उन्होंने शास्त्रार्थ के लिये आह्वान किया। वेद-वेदाङ्गों के उस धुरन्धर विद्वान् को अपना शिष्य बना कर धर्म रक्षा में सहयोग लेना चाहते थे, मार्गदर्शक बना कर नहीं, अन्यथा वह उनसे सहयोग की याचना करते। विद्या यदि ब्राह्मण की निधि है तो ब्राह्मण का भी कर्त्तव्य है कि वह उसे बढ़ाए। उचित पात्रों को विद्या-वारि से भर दे। जो ऐसा नहीं करता वह विद्या का चोर है। ऐसे गुरु(?) का द्रोही कोई गुरु-द्रोही नहीं होता। परन्तु जिसने जैन मत को लगभग निःशेष करके वेद की दुन्दुभि बजाई थी, ऐसे विद्वान् की प्राण रक्षा के लिये कुछ भी प्रयास नहीं किया। अस्तु! शंकर का अद्वैत दर्शन क्या कहता है इस पर विचार करते हैं–

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

यह किसी ग्रन्थ का वचन है किन्तु इससे शांकर मत भली प्रकार समझ आ जाता है। इसमें कहा है–१. ब्रह्म सत्य है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है। २. जगत् मिथ्या है। है नहीं पर वास्तव में भासता है। ३. ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है।

जगत् सत्य नहीं है इसलिए शरीर भी सत्य नहीं है, उसमें स्थित ज्ञानेन्द्रियाँ भी सत्य नहीं हैं। मिथ्या ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान भी मिथ्या है। वास्तव में हमारे पास ज्ञान प्राप्ति का कोई साधन नहीं है। यह ज्ञानेन्द्रियाँ

Scanned by CamScanner

ऐसी विचित्र हैं कि नित्यप्रति हमें धोखा दिया करती हैं। ज्वर में लड्डू कड़वा लगता है, वह दूसरे को मीठा लगता है। किसकी आँख की साक्षी को सत्य माना जाए। हम इन्हें ज्ञान का द्वार कहते हैं वह वास्तव में धोखेबाज है। सम्भव है आप जिसे श्वेत देख रहे हैं मैं उसे हरा देख रहा होऊँ। इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन ढोंग है। जिसे आप सत्य कहते वह और जिसे आप असत्य कहते हैं वह भी असत्य है। जैसे कि मृगतृष्णा दूर से देखने पर जल प्रतीत होता है। या थोड़ी दूरी से समीप को देखकर चाँदी का भ्रम होता है। यदि हम इसकी मीमांसा करे तो पता चलेगा जल और रेत के रूप में कुछ गुण समान हैं और कुछ गुण अलग-अलग अथवा विशेष हैं। जब हम दूर से देखते हैं रेत के केवल उस रूप को देख पाते हैं जो जल से समानता रखता है। रेत के विशेष गुण की प्राप्ति नहीं होती। इसमें प्रमाण अर्थात् आँख का दोष नहीं है। आँख की शक्ति सीमित है। वह एक विशेष दूरी तक पदार्थ का ठीक-ठीक ज्ञान करा सकती है। इससे जल और रेत के अनेक गुणों का दूर से अलग-अलग ज्ञान न हो सका। जब निकट पहुँचे तो सत्य आपके सामने था। ऐसा ही ज्वर में लड्डू के कड़वे लगने की बात है। उस समय जिह्वा पर कड़वा रस चिपका हुआ था। लड्डू और जिह्वा के मध्य कड़वे रस की एक दीवार थी। आपने उस दीवार को चखा था, लड्डू को नहीं। यदि इन्द्रियाँ धोखेबाज हैं तो अन्धे को बधाई देनी होगी कि चलो एक धोखेबाज से तो तुम्हारा पीछा छूटा।

यह सत्य है कि कभी-कभी मनुष्य को सन्देह या भ्रम भी होते हैं परन्तु इससे यह कैसे स्वीकार किया जाए कि जहाँ भ्रम हो वहाँ कुछ है ही नहीं। ज्ञानेन्द्रियों को असत्य कहने वाले शङ्करस्वामी कहते हैं-(शा० भा० २।३।१८) **नित्य-स्वरूप-चैतन्ये घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेत्। न गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्॥** अर्थात् यदि आत्मा स्वरूप से चेतन है तो उसके लिए घ्राणादि इन्द्रियों की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर स्वयं शंकर स्वामी देते हैं गन्धादि विषय अलग-अलग हैं उनके जानने के लिए करण या साधन चाहिए। जादू वह जो सिर चढ़ बोले। यदि विषय असत्य होते, इनका अस्तित्व न होता तो इन्द्रियाँ भी न होतीं।

सन्देहवादियों की शंकाएँ भ्रम मूलक है। उनके स्वयं के कार्यों में स्पष्ट दिखाई देता है कि उन्हें अपनी इन्द्रियों की गवाही पर भरोसा है। उन्हें भूख लगती है तो वह खाद्य पदार्थों का सेवन करते हैं, प्यास लगती है तो पेय पदार्थों का सेवन करते हैं। शंकरस्वामी स्वयं मार्ग पर चलते हुए अपनी आँखों पर विश्वास करते थे नहीं तो उनका किसी मार्ग पर चलना या अन्य कोई भी कार्य करना असम्भव हो जाता।

वास्तव में यदि भ्रम शब्द पर विचार किया जाए तो हम पाएँगे कि भ्रम वास्तव में स्वयं ही निश्चयात्मक ज्ञान के आधार पर ठहरा हुआ होता है। यदि किसी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान न हो तो भ्रम हो ही नहीं

Scanned by CamScanner

सकता, मान लीजिए दो व्यक्ति हैं जिनकी टोपी तो एक जैसी है परन्तु कोट के रंग अलग-अलग हैं। आप उन्हें दूर से आता देखते हैं सब से पहले टोपी को देख पाते हैं आपको भ्रम होता है कि यह अमुक व्यक्ति है किन्तु जब कोट भी दीखने लगता है तब यह अमुक व्यक्ति है यह निश्चय हो जाता है। अब आप विचार करें क्या यहाँ आँख ने धोखा दिया? उत्तर है-नहीं। उसने टोपी की सूचना निर्विवाद रूप से दी थी। जब कोट भी सामने आ गया तो निर्णय हो गया कि अमुक व्यक्ति है। यह कार्य भी आँख के सहयोग से हुआ। यही स्थिति मृग-तृष्णा की है। जब आपने दूर से देखा कि यह तो लहरे लेता हुआ जल-सा प्रतीत होता है। यहाँ आप केवल उस गुण को देख रहे हैं जो जल और रेत में समान है पूर्व दृष्टान्त की टोपियों की तरह। यहाँ रेत के चमकदार कण धूप के कारण और अधिक चमक उठे हैं। पास आने पर भ्रान्ति दूर हो गई क्योंकि रेत का विशेष गुण दिखाई दे गया, जो पानी में नहीं है। इसलिए दर्शनकार गौतम ने सूत्र बनाया-''**समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरूपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥**'' (न्याय० १।१।२३)

अर्थात् समान धर्मों का ज्ञान और विशेष का ज्ञान न होने से अथवा विशेष धर्मों की अपेक्षा से 'संशय' उत्पन्न होता है।

रेत और जल के समान धर्म उसी प्रकार प्रकट हो जाते हैं जैसे दो व्यक्तियों की टोपी। विशेष धर्म उस प्रकार प्रकट नहीं होते जैसे दो व्यक्तियों के भिन्न कोट। यही हाल सीप और चाँदी का है, रस्सी और साँप का भी है। वास्तव में आँख उसी **समान धर्म** अथवा सादृश्य का दर्शन करती है, **विशेष धर्म** दूरी के कारण छुप जाते हैं। इसी प्रकार शंकर द्वारा दिये गए दृष्टान्तों में एक भी ऐसा नहीं है जिसमें कहा जा सके कि आँख अथवा अन्य चारों ज्ञानेन्द्रियों ने धोखा दिया।

अब शंकर स्वामी जी अपने शारीरक भाष्य में किस प्रकार प्रमाणों को असत्य ठहराते हैं यह देखते हैं-

१. प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र अविद्या जन्य हैं।

२. यदि आत्मा शरीर और इन्द्रियों में 'अहं' बुद्धि अथवा 'मम' बुद्धि न करे तब तक आत्मा में प्रमाता की उपपत्ति नहीं हो सकती।

३. बिना इन्द्रियों के प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं रहते।

४. आत्मा के अधिष्ठान के बिना भी इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं।

५. जब तक देह में आत्मा का अध्यास न किया जाए तब तक शरीर से कार्य नहीं होता।

६. यदि यह सब कुछ न हो तो आत्मा में प्रमातृभाव नहीं उठ सकता।

७. यदि प्रमाता (आत्मा) में प्रमातृत्व न हो तो प्रमाणों में प्रवृत्ति न होगी।

Scanned by CamScanner

८. इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र अविद्यावत् हैं।

अब हम विचार करेंगे कि शंकर स्वामी की युक्तियाँ कैसे अयुक्त हैं। हम देखेंगे कि उनका कथन हेतु न होकर हेत्वाभास मात्र है। शंकर स्वामी शरीर और इन्द्रियों में आत्मा का अध्यास मानते हैं। उनका कहना है कि आत्मा शरीर और इन्द्रियों को मैं मानता हूँ, इसका कारण उसका अज्ञान है। इसलिए सब व्यापार अविद्या है। अध्यास क्या है यह हम उन्हीं के शब्दों में समझ लेते हैं।

१. स्मृति के आधार पर किसी दूसरे पदार्थ में उसकी कल्पना करना जैसे दूध का जला छांछ को भी फूंक मार कर पिए।

२. एक वस्तु में दूसरी की कल्पना अध्यास है जैसे ठूंठ को चोर समझना।

३. भेद या विशेष का ज्ञान न होने से जो भ्रम होता है वह अध्यास है जैसे कुत्ता हड्डी चूसते हुए अपने खून के स्वाद को हड्डी का स्वाद समझता है।

४. एक वस्तु के धर्म में दूसरी के गुण मान लेना जैसे जड़ मूर्ति के साथ चेतनवत् व्यवहार करना।

अब देखना है कि आत्मा देहेन्द्रिय में अध्यास कैसे करता है, आगे आप लिखते हैं–

१. पुत्र स्त्री आदि को दुःखी देखकर व्यक्ति स्वयं को दुःखी, सुखी मान लेता है।

२. शरीर के धर्मों का स्वयं में अध्यारोप कर लेता है जैसा मैं मोटा हूँ, काला हूँ इत्यादि। मैं बैठा हूँ, चल रहा हूँ आदि।

३. इन्द्रियधर्म को अपना मानना जैसे मैं लंगड़ा या काला हूँ।

४. अन्तःकरण के धर्म स्वयं में मान लेना, जैसे मैं संकल्प करता हूँ।

अब हमें इन चारों में अध्यास का एक भी उदाहरण दिखाई नहीं देता। अध्यास अर्थात् ''अतस्मिंस्तद्बुद्धिः''। आत्मा कभी भी शरीर में और इन्द्रियों में आत्मबुद्धि नहीं करता हाँ इनको साधन तो सदा मानता है। अध्यास में जिसका अध्यास किया गया वह वस्तु नहीं होती। जैसे रस्सी में साँप का अध्यास किया गया वहाँ साँप वास्तव में नहीं था। यदि वहाँ सचमुच साँप होता तो वह अध्यास न कहलाता। परन्तु साधक के पास साधन (वास्तविक वस्तु) होते हैं। पति के पास पत्नी होती है। पति का दुःख वह दुःख नहीं है जो पत्नी का है। मान लें पत्नी पेट दर्द से तड़प रही है, पति अपने में पेट दर्द का अध्यास नहीं करता। उस समय पति की भावना होती है कि यह मेरी पत्नी है, इसे दर्द हो रहा है। उसका कष्ट दूर करने की बेचैनी होती है, इसे पति का दुःख कहा गया, न कि पत्नी में पति का अध्यारोप हुआ। इसी प्रकार कोई भी कष्ट होने पर मनुष्य

Scanned by CamScanner

यह नहीं कहता कि मैं शरीर हूँ सब कहते हैं मेरा शरीर है।

आचार्य ने तो अपने भाष्य का आरम्भ भी इस कल्पना से किया है कि चेतन विषयी अर्थात् आत्मा में अचेतन विषय और उसके धर्मों का मान लेना अध्यास है। इसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया।

एक और प्रतिपत्ति की मीमांसा करते हैं। शंकर स्वामी के दादा गुरु गौड़पाद जी की माण्डूक्योपनिषद् पर एक कारिका है–

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥

इस पर आचार्य का भाष्य है–जो पदार्थ आदि में न हो और अन्त में भी न हो वह मध्य में भी नहीं रहती, ऐसा लोक प्रसिद्ध है। यही जाग्रतावस्था में सब की स्थिति है। मृगतृष्णा न आदि में होती है और न ही अन्त में। इसलिए उन्हें असत्य समझा जाता है। लोगों को यह वितथ अर्थात् असत्य प्रतीत नहीं होते वह इन्हें सत्य ही मानते हैं।

गौड़पादाचार्य इसको लोक में स्वयंसिद्ध मानते हैं। जो आदि में न हो और अन्त में भी न हो वह बीच में भी नहीं होती यह कौन से लोक की स्वयंसिद्धि है, हमें आज तक इसका ज्ञान नहीं हुआ। गौड़पाद जी जन्म से पूर्व नहीं थे और आज भी नहीं है तो क्या इस आधार पर यह स्वीकार कर लिया जाए कि गौड़पाद जी कभी नहीं हुये। जो खाद्य पदार्थ पूर्व में न थे, बाद में भी नहीं थे तो यह जानकर कैसे शंकर स्वामी अपदार्थों से अपना पेट भरते रहे। आप कहेंगे शंकर स्वामी ने दृष्टान्त जो दिया है वह सत्य है। मृगतृष्णिका मिथ्या अवश्य है परन्तु इसका कारण आदि और अन्त होना नहीं है। मृगतृष्णा किस अंश में मिथ्या है और किस अंश में सत्य, हम इसकी मीमांसा पहले ही कर चुके हैं। जब पहले इस आदिमत्व और अन्तिमत्व को सप्रमाण स्वीकार कर लिया जाता तो मृगतृष्णा का दृष्टान्त दे सकते थे, परन्तु वास्तव में इसके पक्ष में लोक में कोई दृष्टान्त है ही नहीं। यहाँ शंकर और उनके दादा गुरु यह बताना चाहते हैं कि संसार के सभी पदार्थ आदि अन्त वाले नहीं हैं। इसलिए केवल मध्यवर्ती होने के कारण उनकी सत्ता नहीं है। केवल ब्रह्म ही है, जो अनादि अनन्त है इसलिए अब भी है। इसलिए वास्तव में केवल ब्रह्म ही सत्य है।

अब शाङ्कर शारीरक-भाष्य को देखिए। सर्वप्रथम वाक्य जो वेदान्त भाष्य में मिलता है यह है–**''युष्मत् अस्मत् प्रत्ययगोचरयोः तमः प्रकाशवत् इतर-इतर-भाव-अनुपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणाम् अपि सुतरां इतर-इतर-भाव-अनुपपत्तिः।''**

'तुम' कहते हैं विषय=ज्ञेय पदार्थ अर्थात् जिसको जानना है।

'विषयी' अर्थात् जानने वाले को 'मैं' कहते हैं।

इन दोनों में इतना भेद है जितना प्रकाश और अन्धकार में। इन दोनों

Scanned by CamScanner

के स्वभाव नहीं मिलते। इसलिए इनके धर्म भी नहीं मिलते यहाँ आचार्य ने अध्यास का भवन खड़ा करना है, इसलिए ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों में प्रकाश और अन्धकार का अन्तर बताया है। अर्थात् प्रकाश रहेगा तो अन्धकार नहीं रहेगा, अन्धकार रहेगा तो प्रकाश नहीं रहेगा। अपने इस कथन को आचार्य स्वयंसिद्ध मान लेते हैं। इसमें कोई युक्ति अथवा प्रमाण देने की वह आवश्यकता नहीं समझते।

जिस प्रकार साँप कोई वस्तु नहीं होता रस्सी में उसका अध्यास कर लेते हैं, उसी प्रकार कोई वस्तु नहीं वस्तुतः मैंने अर्थात् ज्ञाता ने अपने आप में तुम्हारा अर्थात् ज्ञेय का अध्यास कर लिया। वास्तव में पदार्थ रहा ही नहीं। यदि शंकर की इस प्रतिपत्ति को यथावत् स्वीकार कर लिया जाए तो ब्रह्म सत्य-जगन्मिथ्या होने में शेष कुछ भी न बचा। इसलिए अध्यास के जो चार वर्ग शंकर स्वामी ने किए वह सभी मिथ्या सिद्ध होते हैं। जब कोई व्यक्ति कहता है 'अन्धोऽहम्' तो इसका केवल इतना ही तात्पर्य होता है कि मैं नेत्रहीन हूँ। मैंने नेत्रों का अपने में अध्यास कभी नहीं किया।

और शंकर स्वामी का यह लिखना कि-

स्वभाविक लोक व्यवहार केवल यह मैं यह मेरा है रूपी मिथ्याज्ञानवश सत्य और असत्य को एक कर देने से होता है। -शाङ्कर भाष्य भूमिका

जगत् के सारे व्यवहारों को झूठा सिद्ध करने के लिए केवल लोक व्यवहार का उल्लेख भर कर दिया, जिसको लोक में कोई भी मिथ्या नहीं मानता। जब मैं कहता हूँ यह मेरा कलम है, यह मेरा भाई है तो इसमें कौन-सी बात गलत हो जाती है। क्या 'मैं' मिथ्या हूँ, इसे तो शंकर स्वामी भी न मानेंगे क्योंकि मैं को वह भी प्रकाशवत् सत्य मानते हैं। क्या पुस्तक को मिथ्या मान लिया जाए। जब तक इसका मिथ्यात्व सिद्ध न हो, कैसे मान ले। इसका मिथ्यात्व बन्ध्या के पुत्र की तरह स्वयं सिद्ध तो है नहीं। वहाँ भी बन्ध्या मिथ्या नहीं है। पुत्र भी मिथ्या नहीं है। बन्ध्या पुत्र का सम्बन्ध अर्थात् बन्ध्या पुत्रवतीत्व मिथ्या है। बन्ध्यापन और पुत्रवतीत्व परस्पर विरुद्ध धर्म है। बन्ध्या का भाई परस्पर विरोधी धर्म नहीं है। शङ्कराचार्य जी की पहली बात दूसरी बात का विरोध करती है। अर्थात् नैसर्गिक बातों का मिथ्या होना। यदि यही मिथ्या हो तो सत्य किसे कहेंगे। अब स्वप्न का विचार करते हैं। साधारणतः शरीर युक्त आत्मा की चार अवस्था है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। चौथी अवस्था का हमारे विषय से सम्बन्ध नहीं है। जिस अवस्था में आत्मा का मन और इन्द्रियों द्वारा अर्थों से सम्बन्ध रहता है वह जाग्रत अवस्था। जब आत्मा का मन से सम्बन्ध रहता है वह स्वप्न। इस अवस्था में जो संस्कार जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों द्वारा मन पर पड़े वही निद्राकाल में उठ खड़े होते हैं, यही स्वप्न है। सुषुप्ति की स्थिति में न सोने वाले की कोई कामना होती है न स्वप्न ही देखता है। वेदान्त के स्वाप्ययात् १।१।९ सूत्र का भाष्य करते हुए

Scanned by CamScanner

आचार्य लिखते हैं जागृत अवस्था में मन इन्द्रियों के अर्थों को ग्रहण करता है। स्वप्न में केवल वासनाएं रहती है, अर्थ नहीं रहते। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जाग्रतावस्था के बिना स्वप्नावस्था नहीं हो सकती। बहुधा यह प्रश्न उठता है कि जागृत अवस्था स्वप्न की अनुगामिनी है या स्वप्नावस्था जागृत की। यह तो सत्य ही है कि दोनों अवस्थाएँ हैं आत्मा की ही। यदि जागृत अवस्था स्वप्न की अनुगामिनी है तो जैसे स्वप्न में बाह्य पदार्थ नहीं रहते, उसी प्रकार जागृत अवस्था में भी कोई बाह्य पदार्थ नहीं होंगे। जिस प्रकार स्वप्न अवस्था में बाह्य पदार्थों का अभाव है उसी प्रकार जागृत में भी बाह्य पदार्थों का अभाव होगा। यदि जागृत अवस्था मौलिक है तो स्वप्न की प्रतीतियाँ भी बाहर की चीज़ें होगीं। स्वयं जाग्रत अवस्था में भी कई स्थितियाँ ऐसी होती है जिनमें बाह्य पदार्थों का अभाव होकर भी प्रतीति होती है। यथा स्मृति, अनुप्रतीति (यह स्मृति के आधार पर होती है) विकल्पना यथा चित्रकार और वैज्ञानिक करते हैं, भ्रम कभी-कभी कुछ का कुछ दीखना और आभास। यह सभी जाग्रत की स्थितियाँ हैं। इनमें बाह्य पदार्थ नहीं होते परन्तु किसी न किसी रूप में यह बाह्य पदार्थों के आश्रित होती है। ऋषि पतञ्जलि कहते हैं–'अनुभूत विषयाऽ-सम्प्रमोषः स्मृतिः।'

जब तक अनुभूत विषय नहीं होंगे स्मृति नहीं होगी। शेष चारों अवस्थाएँ स्मृति के आश्रित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं–'स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्' अब देखना यह है कि शंकर अपने मायावाद में स्वप्न का क्या प्रयोग करते हैं।

उनकी प्रतिज्ञा है–जागृत में देखी हुई वस्तुएँ मिथ्या है।

हेतु–क्योंकि वह दिखाई देती है।

उदाहरण–जैसे स्वप्न में देखी हुई वस्तुएँ।

उपनय–जिस प्रकार स्वप्न में देखी वस्तुएँ मिथ्या हैं उसी प्रकार जागृत में देखी वस्तुएँ भी मिथ्या हैं।

निगमन–जागृत में देखी वस्तुएँ भी मिथ्या है। शंकर स्वामी जागृत का मिथ्यात्व सिद्ध करना चाहते हैं हेतु देते हैं दिखाई देने से। इसका तात्पर्य है जो वस्तु दिखाई पड़े वह मिथ्या है इससे यह भी तो अर्थापत्ति से सिद्ध होता है न कि जो न दिखाई पड़े वह सत्य ही होगा। मिथ्या सिद्ध करने के लिए वह दृश्यमानत्वात् को पर्याप्त हेतु मानते हैं। परन्तु हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि जो भी हम स्वप्न में देखते हैं वह स्मृति है अर्थात् वह वस्तु या व्यक्ति कभी न कभी, कहीं न कहीं अवश्य था। उसके स्मृति, संस्कार मेरे मन पर अंकित हैं। शंकर ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान-कारण मानते हैं।

Scanned by CamScanner

एकत्व से बहुत्व कैसे उत्पन्न हो गया, यह एक जटिल प्रश्न है। उपादानकारण से कार्य की उत्पत्ति में पहले आरम्भक अर्थात् उपादान, निमित्त और साधारण कारण चाहिए। फिर परिणाम। कई चीजों को मिला लेने को प्रारम्भ और वस्तु के बन जाने को परिणाम। जैसे ईंटों से घर बनना, पानी से बर्फ बनना आदि। और किसी वस्तु का विपरीत प्रतीत होना विवर्त कहलाता है। कार्य-कारण शब्दों का तात्विक प्रयोग हम आरम्भ और परिणाम को कह सकते हैं विवर्त को नहीं। विवर्त वस्तुतः कार्य नहीं है। पानी की बर्फ, मिट्टी से घड़ा तो वास्तव में कार्य है। परन्तु रेत में पानी विवर्त है। रस्सी में साँप की कल्पना वह व्यक्ति करता है जिसने साँप को भली प्रकार देखा हुआ है। आप समझ सकते हैं कि पानी तो वस्तुतः एक ही था उसमें परिमाण कैसे उत्पन्न हो गया। मकान बनाने के लिए ईंटें तो बहुत सारी थी। परन्तु पानी को जमाने के लिए भी पानी की असंख्य ईंटों (कणों) की आवश्यकता होती है। उपादानकारण के सबसे छोटे अंग को अणु कहते हैं, जिसके आगे विभाग नहीं हो सकते, परन्तु शंकर स्वामी की बात निराली है वह कहते हैं-'परमाणूनामपि विनाशो भविष्यति'।

अपने मत की पुष्टि के लिए शंकर स्वामी कुछ भी कर सकते हैं। पहले उन्होंने या उनके दादा गुरु या उनके किसी पूर्वज ने मात्र ब्रह्म ही सत्य है कि कल्पना की, फिर न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, मीमांसा सभी दर्शनों को नास्तिक प्रतिपादित किया। केवल वेदान्त के आश्रय चलें, परन्तु वहाँ भी उनकी दाल नहीं गली। स्वयं ही ब्र० सूत्र २।२।२६ सूत्र-'नासतोऽदृष्ट्त्वात्।'

सूत्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं-''नाभावाद्भाव उत्पद्यते। यद्यभावाद्भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात् कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात्।''

अभाव से भाव उत्पन्न नहीं होता। यदि होता तो अभाव सर्वत्र होने के कारण विशेष उपादान की आवश्यकता न पड़ती। इसी युक्ति से जैसे अभाव से भाव नहीं हो सकता उसी प्रकार भाव से भी अभाव नहीं हो सकता। इसलिए हम यह मानते हैं कि ईश्वर तो एक है परन्तु और भी बहुत-सी वस्तुएँ हैं जिनसे संसार बनता है। आत्माएँ भी हैं जिनके लिए संसार बनाया जाता है और भ्रमवादी जो जगत् को मिथ्या समझते हैं, केवल ब्रह्म को ही सत्य समझते हैं। जगत् को मिथ्या समझकर उसे प्रमाण कोटि में कैसे रख सकते हैं, और उससे किसी प्रमेय की सिद्धि कैसे हो सकती है। मैं किसी के भवन की खूब प्रशंसा करते हुए कारीगर की प्रशंसा करते हुए यह भी कह दूँ कि भवन तो वास्तव में है ही नहीं तो निर्माता और कारीगरी की सिद्धि कैसे हो सकती है?

सम्पर्क सूत्र-कुटिया नं०-११४, आर्य वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर (हरिद्वार)

Scanned by CamScanner